UGC: 1340-48783, ISSN: 2349-4654
नाद-नर्तन जर्नल ऑफ डांस एण्ड म्यूज़िक
वर्ष : 5, अंक : 1, जुलाई 2017

प्रत्यंग वाद्यों के बदलते स्वरूप का अध्ययन

ज्योति गुप्ता
शोधार्थी, संगीत विभाग, डी. ई.आई., दयालबाग, आगरा

सार-संक्षेप

मानव द्वारा आन्तरिक भावों व अनुभूतियों को संगीतात्मक ध्वनि, लय तथा बोलो के माध्यम से प्रकट करने वाले उपकरण वाद्य कहलाते है। मानव सभ्यता के साथ-साथ आदि काल से लेकर आज तक विभिन्न प्रकार के वाद्यों का उद्‌भव, विकास एवं उपयोग आवश्यकतानुसार होता रहा है। वाद्यों का एक शृंखलाबद्ध वैभवशाली इतिहास रहा है किन्तु प्राचीन कालीन सांगीतिक वाद्यों के विषय में प्रामाणिक तथ्य या साहित्य की प्राप्ति सर्वप्रथम जिस ग्रंथ के माध्यम से होती है वह ग्रंथ है—भरत मुनि कृत 'नाट्यशास्त्र' ग्रंथ। आचार्य भरतमुनि ने अवनद्ध वाद्यों जो चर्माच्छादित वाद्य मानते हुए उन्हें अंग तथा प्रत्यंग दो श्रेणियों में विभक्त किया है। अंग वाद्य बनावट, वादन-विधि, स्वर मार्जना, पाटाक्षरों की दृष्टि से उन्नत अवस्था के वाद्य थे, जिन्हें निश्चित स्वर में मिलाकर वादन किया जाता था। जिनमें पुष्कर, त्रिपुष्कर, मृदंग, पणव व दर्दर आदि प्रमुख वाद्य थे। तथा प्रत्यंग वाद्य की बनावट, वादन-विधि, स्वर मार्जना, पाटाक्षरों की दृष्टि से उन्नत अवस्था के वाद्य नहीं थे उसमें स्वर मार्जना संभव नहीं थी अस्तु इन वाद्यों की बनावट के समय जो स्वर स्वत: ही जिस ध्वनि का निर्वाहन करते थे। उसी अनिश्चित ध्वनि में इन वाद्यों का वादन प्रयुक्त किया जाता था। तथापि इन वाद्यों को गौण या प्रत्यंग वाद्य कहा जाता था। जिनमें दुन्दुभि, भूमि दुन्दुभि, झल्लरी, पटह, भेरी, बाण, डिण्डिम, झंझा इत्यादि वाद्य प्रमुख रहे है। गौण या प्रत्यंग वाद्य होते हुए भी उन वाद्यों का अपना अलग अस्तित्व रहा है। अत: प्राचीन कालीन वाद्यों का स्वरूप कैसा था? उनका वादन किस प्रकार व किन-किन अवसरों पर किया जाता था? तथा वर्तमान में उन वाद्यों में क्या-क्या परिवर्तन दृष्टव्य होते है। उक्त जिज्ञासा उत्पन्न होना स्वाभाविक ही हैं अस्तु प्रत्यंग वाद्यों में किंचित ढाँचे, स्वरूप, वादन विधि, नामकरण इत्यादि में क्यों व किस सीमा तक बदलाव आया व उनका वर्तमान में क्या स्वरूप है व वर्तमान में उनकी प्रासंगिता के अध्ययन को उद्देश्य मानते हुए प्रस्तुत शोध पत्र माध्यमिक स्त्रोतों में विभिन्न वाद्यों से संबन्धित पुस्तको व ग्रंथों को आधार मानते हुए लिखा गया है।

मुख्य शब्द : प्रत्यंग वाद्य व अंग वाद, वादनीय, नाट्यशास्त्र, अवनद्ध वाद्य

शोध-पत्र

संगीत आदि कालीन कला है, जिसका प्रादुर्भाव मानव सभ्यता के साथ ही हुआ है। आदिम सभ्यता में मानव आनन्दातिरेक में अपनी अनुभूति, भावनाओं और हर्ष उल्लास को प्रकट करने के लिए उछल-कूद, मुख से भिन्न-भिन्न प्रकार की ध्वनियाँ निकलना तथा जमीन पर पैर मरना, दोनो हाथों से ताली बजाना, पेट, छाती, जाँघों पर हाथ मारना आदि अनेक शारीरिक क्रियायें किया करता था । यही मानवाभिव्यक्ति एवं शारीरिक क्रियायें धीरे-धीरे सांगीतिक वाद्यों के रूप में प्रस्फुटित हुई अस्तु आदि काल से लेकर आज तक विभिन्न प्रकार के वाद्यों का उद्‌भव, विकास एवं उपयोग आवश्यकतानुसार होता चला गया।

'वाद्य' शब्द का शाब्दिक अर्थ है 'वादनीय' या 'बजाने योग्य यंत्र-विशेष से है। यह शब्द 'वद्' धातु में 'यत्' प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता है। 'वद्' का अर्थ है—'बोलना'। अर्थात्—

''वाद्यते ध्वन्यते इति''।

जो बोलता है वही वस्तुत: वाद्य है। यदि हम ध्यानपूर्वक सुने तो वाद्य में हमें स्वरों और उनमें बंधे शब्दों का स्पष्ट उच्चारण सुनाई भी देता है।[1]

संगीत जगत में प्राचीन काल में मानव कंठ को भी वाद्य माना गया है। जिसे गात्र वीणा की संज्ञा दी जाती है। चूँकि कंठ वाद्य ईश्वर निर्मित है अतएव मनीषियों ने मनुष्यों द्वारा निर्मित वाद्यों का ही मनन तथा वर्णन किया है। यूँ तो वाद्यों का प्रयोग आदिकाल से होता आ रहा है परन्तु सभ्यता के विकास के साथ-साथ इनकी संख्या और गुणवत्ता में भी विकास हुआ है। वाद्यों की परिभाषा एवं वर्गीकरण विभिन्न विद्वानों के अनुसार निम्नवत् है—

डॉ. सुषमा कुलश्रेष्ठ के शब्दों में—''संगीतात्मक ध्वनि तथा गीत को प्रकट करने के उपकरण को 'वाद्य' कहा जाता है।''[2]

डॉ. चित्रा गुप्ता के अनुसार—''आन्तरिक भावों व अनुभूतियों को संगीतात्मक ध्वनि, लय तथा बोलों के माध्यम से प्रकट करने वाले उपकरण 'वाद्य' कहलाते है और संगीत में लगने वाले समय की गति को मापने वाले यन्त्र विशेष 'ताल वाद्य' कहलाते हैं।''[3]

भारतीय संगीत शास्त्र में उपलब्ध वाद्य-वर्गीकरण में भरत मुनि प्रदत्त वर्गीकरण ही सर्वाधिक प्राचीन, सर्वश्रेष्ठ एवं वैज्ञानिकता से परिपूर्ण माना गया है। जिसका बहुत अल्प रूपान्तर के साथ अब तक प्रयोग होता आ रहा है।[4] समस्त संगीताचार्यों व आचार्य भरत मुनि ने मुख्यत: चतुर्विध वाद्य-वर्गीकरण को स्वीकृत कर इन चारों वाद्यों के लक्षणों को स्पष्ट करते हुए निम्नवत् लिखा है—

ततं चैवावनद्ध च घनं सुषिरमेव च।
चतुर्विधं तु विज्ञेयमातोद्यं लक्षणान्वितम्।। 1।।[5]

ततं तन्त्रीगतं ज्ञेयमनवद्धं तु पौष्करम्।
घनं तालस्तु विज्ञेय: सुषिरो वंश उच्यते।। 2।।[6]

अर्थात्—आतोद्य वाद्य चार प्रकार के हैं तत, घन, अवनद्ध, सुषिर। इनके लक्षणों के आधार पर तन्त्री वाद्यों को तत, चमड़े से मढे वाद्यों को अवनद्ध, कास्य इत्यादि को घन वाद्य तथा वंशी आदि को सुषिर वाद्य कहते हैं। महर्षि भरत ने नाट्यशास्त्र ग्रन्थ में समस्त वाद्यों को आतोद्य की संज्ञा दी थी।

आचार्य भरतमुनि कृत नाट्यशास्त्र ग्रंथ के 33वें अध्याय 'अवनद्धातोयविधानाध्याय' में अवनद्ध वाद्यों को दो भागों में विभक्त किया गया है—1. अंग वाद्य 2. प्रत्यंग वाद्य।

जो वाद्य बनावट, वादन-विधि, स्वर मार्जना, पाटाक्षरों की दृष्टि से उन्नत अवस्था के वाद्य थे, जिन्हें निश्चित स्वर में मिलाकर वादन किया जाता था। वह प्रमुख या अंग वाद्य कहलाते थे। जिनमें पुष्कर, त्रिपुष्कर, मृदंग, पणव व दर्दर आदि प्रमुख वाद्य थे तथा प्रत्यंग वाद्य वे वाद्य थे। जिनकी बनावट इस प्रकार से थी कि उसमें स्वर मार्जना संभव नहीं थी एवं नाट्य शास्त्र ग्रंथ में वर्णित समस्त 16 पाटाक्षरों का वादन भली-भांति नहीं हो पाता था। अस्तु इन वाद्यों की बनावट के समय जो स्वर स्वत: ही जिस ध्वनि का निर्वाहन करते थे। उसी अनिश्चित ध्वनि में इन वाद्यों का वादन प्रयुक्त किया जाता था। तथापि इन वाद्यों को गौण या प्रत्यंग वाद्य कहा जाता था।

प्रत्यंग वाद्यों के नाम स्पष्ट रूप से व्यक्त करते हुए आचार्य भरत मुनि ने 33 वें अध्याय के श्लोक सं. 16 में वर्णित किये हैं कि:-

झल्लरीपटहादीनि प्रत्यङानि तथैव च।।16।।[7]

अर्थात्—झल्लरी, पटह जैसे वाद्यों को प्रत्यंग वाद्य माना जाता है। डॉ. लालमणि मिश्र जी ने भी प्रत्यंग वाद्य के सन्दर्भ में कहा है— कि ''जिन वाद्यों में स्वर मिलाने की कोई व्यवस्था नहीं थी उन्हें महर्षि भरत ने प्रत्यंग वाद्य माना है। प्रत्यंग वाद्यों में झल्लरी, पटह, भेरी, झंझा, दुन्दुभि, भूमि दुन्दुभि, डिण्डिम आदि की गणना की है।[8]

प्राचीन काल में अवनद्ध वाद्यों में प्रत्यंग वाद्य को अंग वाद्य से उनकी गुण एवं धर्मता के आधार पर भिन्न रखा गया। जो 33वें अध्याय के श्लोक संख्या 26 व 27 में स्पष्ट परिलक्षित होता है यथा—

शेषाणां कर्मबाहुल्यं यस्मादस्मित्र दृश्यते ।
न स्वरा न प्रहाराश्र नाक्षराणि न मार्जना ।।26।।

भेरीपटहजञ्झाभिस्तथा दन्दुभिडिण्डिमैः ।
शैथिल्यादायतत्वाच्च स्वरे गाम्भीर्यमिष्यते ।।27।।[9]

अर्थात्—क्योंकि इनमें (प्रत्यंग वाद्य) शेष वाद्यों (अंग) की तरह ध्वनि में कोई जोरों का गुंजन नहीं रहता। यहाँ न तो विभेदक या भिन्न स्वरों की ही सृष्टि होती है न विधिवत् प्रहारों की व्यवस्था है, न स्पष्ट अक्षरों की सत्ता होती है और न ही इनमें मार्जनाओं की आवश्यकता पड़ती है। भेरी, पटह, जाञ्झा (झंझा) और दुन्दुभि तथा डिण्डिम को भी बजाते समय उनके विस्तार के कारण बड़े आकार में होने और शिथिल या ढीले बंधन रहने पर भी केवल गम्भीर ध्वनि की ही अपेक्षा रखी जाती है।

यहाँ भरत मुनि के इस स्पष्टीकरण के अर्थ को स्पष्ट करते हुए डॉ. योगमाया शुक्ला जी का विचार भी उद्धत किया जा सकता है यथा:— ''भरतमुनि ने अवनद्ध वाद्यों की संख्या यद्यपि एक सौ बताई है किन्तु त्रिपुष्कर के अतिरिक्त अन्य अवनद्ध वाद्यों में जिनमें दुन्दुभि भी थी, स्वर प्रहार, अक्षर व मार्जना संयोजन की व्यवस्था नहीं थी। अर्थात् इन वाद्यों को न तो निर्दिष्ट स्वरों में मिलाया जा सकता था और न विविध आद्यातों से ध्वनि के विभिन्न रूपों व पाटाक्षरों (बोलों) को उत्पन्न करते हुए बजाया जा सकता था। मुख पर मढे चर्म में शिथिलता होने के कारण, इन वाद्य के वादन में केवल ध्वनिगांभीर्य मात्र ही थी। अत: ध्वनि व वादन की दृष्टि से ये वाद्य उन्नत न थे।''[10]

प्राचीन कालीन प्रत्यंग वाद्य अर्थात् गौण वाद्य अपनी उन्नत अवस्था में न होते हुए भी संगीत जगत में अहम भूमिका का निर्वाह करते एक विशिष्ट स्थान लिये हुए है किन्तु इनके स्वरूप, कलेवर, वादन-विधि, प्रयोग आदि में किंचित परिवर्तन आना स्वाभाविक ही है क्योंकि परिवर्तन प्रकृति की देन है और जब तक परिवेश में परिवर्तन नहीं आता तब तक नवीनता की ओर अग्रसर होने की संभावना संभव नहीं होती। अस्तु प्राचीन कालीन नाट्य शास्त्र ग्रंथ में वर्णित कतिपय प्रत्यंग वाद्यों में भूमि दुन्दुभि, दुन्दुभि, झल्लरी, पटह, भेरी, भाण्ड व डिण्डिम इत्यादि वाद्यों की बनावट एवं बदलता स्वरूप निम्नवत् प्राप्त होता है यथा—

भूमि दुन्दुभि

वैदिक साहित्य को विश्व साहित्य के इतिहास में सबसे प्राचीन माना जाता है। प्राचीन साहित्य में भूमि दुन्दुभि एवं दुन्दुभि का बड़े प्रमाण में उल्लेख मिलता है ऋग्वेद, अथर्ववेद, यजुर्वेद, सामवेद, वाजसनेय ही संहिता, उपनिषद्, ऐतरेय, रामायण, महाभारत आदि में भूमि दुन्दुभि का उल्लेख है।[11]

भूमि दुन्दुभि के निर्माण के बारे में कहा जाता है कि जमीन में बड़ा गडढ़ा खोदकर उसके ऊपर गडढ़े के आकार से बड़ा चमड़ा रख दिया जाता था। फिर उस चमड़े को ऊपर से खूटियाँ गाड़कर उनके द्वारा ताना जाता था। तनाव के बाद लकड़ी की डांडियों से पीट-पीटकर उसे बजाया जाता था। चमड़ा बड़ा होने के कारण वह किसी बड़े जानवर का होगा। भरत मुनि ने भूमि दुन्दुभि के निर्माण के बारे में ज्यादा विवेचन नहीं दिया है।

डॉ. योग माया शुक्ला जी ने भी भूमि दुन्दुभि के सन्दर्भ में वर्णित किया है कि ''भूमि में गडढा खोद कर उसे पशुचर्म से आच्छादित करके, बैल की पूँछ से प्रहार करते हुए बजाए जाने वाले भूमि दुन्दुभि नामक अवनद्ध वाद्य का उल्लेख वेदों में मिलता है।''[12] भूमि दुन्दुभि का उपयोग लोगों को एकत्रित करने, खतरे का संकेत देने आदि के लिए किया जाता होगा।[13]

वर्तमान में भुमि दुन्दुभि लुप्त प्राय: हैं। प्राचीनकाल में प्रचलित भूमि दुन्दुभि नामक वाद्य का भरत मुनि नाट्य शास्त्र ग्रन्थ के बाद कोई भी उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। अस्तु इसका अभिप्राय: है कि भूमि दुन्दुभि का प्रचार बिल्कुल बन्द हो गया। इसके लुप्त होने के अनेक कारण हो सकते हैं।

इसका निर्माण भूमि में किया जाता था। अत: इसको एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं ले जाया जा सकता था। इस कारण शायद इसका प्रचार कम हुआ और इसका निर्माण होना बन्द हो गया होगा। भूमि दुन्दुभि के

सदृंश दुन्दुभि प्रचलित थी। अस्तु अनुमानत: कह सकते हैं कि दुन्दुभि वादन की दृष्टि से भ्रमण की दृष्टि से उपयोगी सिद्ध होगी। इसी कारण वंश की भूमि दुन्दुभि का स्थान दुन्दुभि ने ग्रहण कर दिया। तथापि मध्य काल तथा वर्तमान में इसी का प्रचार नहीं मिलता है। भूमि दुन्दुभि पूर्णत: लुप्त हो गयी।

दुन्दुभि

चर्माच्छादित वाद्यों में दुन्दुभि का वैदिक काल से ही विशेष सम्मान था। अत: प्राचीन काल में भी दुन्दुभि वाद्य महत्वपूर्ण वाद्य माना जाता था। जिसका विवरण नाट्य शास्त्र ग्रंथ में प्रत्यंग वाद्य के रूप में मिलता है। दुन्दुभि का उल्लेख भरत मुनि ने 33 वें अध्याय के 11 श्लोक के अन्तर्गत किया है। उन्होने दुन्दुभि वाद्य को प्रत्यंग वाद्य की श्रेणी में रखा है तथा उसकी उत्पत्ति देवगणों के द्वारा बताई है।

प्राचीन काल में इसका निर्माण कदाचित् मिट्टी से या लकड़ी से होता था, तथा इसके ऊपर चमड़ा मढ़ा जाता था। दुन्दुभि का मुख चर्म से आच्छादित होता था तथा उससे चारों ओर से बंधाकर, कठोर चमड़े से बनाया जाता था। दुन्दुभि वाद्य अत्यधिक गम्भीर ध्वनि उत्पन्न करने वाले वाद्य था। जिसे अनिश्चित स्वर में न मिलाने के कारण उसे प्रत्यंग वाद्य की संज्ञा दी जाती है। दुन्दुभि का प्रयोग विजय यात्रा मंगल कार्यों और मन्दिरों में बजायी जाती है।

शत्रुओं को परास्त करने के लिए दुन्दुभि का उल्लेख पाया जाता है दुन्दुभि की गर्जना वीरों के हृदय में उत्साह का संचार तथा शत्रुओं के हृदय में भय उत्पन्न करती है। दुन्दुभि का घोष समस्त दिशाओं में परिव्याप्त होने के लिए भी दुन्दुभि का प्रयोग होता था। दुन्दुभि वाद्य की बनावट में आम के पेड़ की छाल का प्रयोग किया जाता था। अर्थात् उसका शरीर लकड़ी का बना होता था।[14]

प्राचीन दुंदुभि एक बड़े नगाड़े जैसा वाद्य था। उन्नींसवी शताब्दी में जयपुर के महाराज सवाई प्रतापसिंह ब्रजनिधि द्वारा संकलित श्रीराधागोविंदसंगीतसार ग्रंथ में धौंसा नामक अवनद्ध वाद्य का जो वर्णन दिया गया है वह संगीत रत्नाकर में संस्कृत में दिये गए दुंदुभि वाद्य के लक्षणों का ब्रजभाषा में अनुवाद मात्र है। मध्यकालीन साहित्य में युद्ध के अवसर बजाए जाने वाले एक बड़े नगाड़े का उल्लेख धौंसा के नाम से मिलता है जिसकी गुरू गंभीर बृहद् ध्वनि से मन में एक प्रकार की भयमिश्रित महानता का संचार होता हैं। भक्त कवियों तथा संगीतसारादि ग्रन्थ देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि संगीत -रत्नाकर के बाद दुन्दुभि को ही नगाड़ा भी कहा जाने लगा था जिसमें दो नग होते थे। 'हिन्दी शब्द सागर' में दुन्दुभि का अर्थ नगाड़ा और धौंसा लिखा है। दुन्दुभि का अर्थ नगाड़ा हो सकता है, किन्तु धौंसा नहीं। परमानन्ददास ने लिखा है।

''इतहू बाजे लागे बाजन दुन्दुभि धौंसा गाजे।''[15]

इस प्रकार दुन्दुभि के साथ धौंसा का वर्णन सिद्ध करता है कि धौंसा दुन्दुभि से पृथक् वाद्य है। पोपले महोदय ने दुन्दुभि को नगाड़ा और भेरी माना है, किन्तु भेरी दुन्दुभि नहीं, एक पृथक् वाद्य है। अत: विविध मत भेदों पर दृष्टिपात करके दुन्दुभि का परिवर्तित रूप नगाडा स्वीकार कर सकते है।

झल्लरी

नाट्य शास्त्र ग्रन्थ में भरत मुनि झल्लरी वाद्य को भी प्रत्यंग वाद्य माना तथा इसकी बनावट के सन्दर्भ में 33 वे अध्याय के श्लोक 13 में वर्णित किया गया है कि ''स्वाति मुनि ने अंग वाद्यों का निर्माण करने के पश्चात् झल्लरी, पटह जैसे वाद्यों को लकड़ी तथा लोहे से बनाते हुए उन्हें भी चमड़े से मढ़ दिया।''

झल्लरी वाद्य दीर्घता में बारह अगुल की परिधि में अठारह अंगुल की समान विस्तार वाली सुत्र करक से युक्त चमड़े से आच्छादित मुख वाली झल्लरी होती थी। वह बाँये हाथ से धारण करके दाहिने हाथ से बजायी जाती थी।

संगीत रत्नाकर के काल में झल्लरी के साथ-साथ उसका एक छोटा रूप भी प्रचलित था जिसे भाण कहते थे। संगीत परिजात में चक्रवाद्य अथवा करचक्र के नाम से सम्बोधित किया गया है। मध्य काल में जो झल्लरी का वर्णन प्राप्त होता है वह वर्तमान में प्रचलित चंग या खंजरी के समान प्रतीत होती है। अत: यही इसके बदलते स्वरूप का परिणाम है।

पटह

भरत मुनि द्वारा वर्णित प्रत्यंग वाद्यो में पटह भी प्रमुख वाद्य के रूप में मानी जाती है। भरत मुनि ने पटह वाद्य की बनावट का विस्तृत विवेचना तो नहीं किया किन्तु उसकी बनावट स्वरूप के सम्बन्ध में श्लोक संख्या 13,16,27 में चर्चा जरूर की है कि पटह वाद्य दो मुखी वाद्य की श्रेणी में आता था। इसको लड़की तथा लोहे से बनाया जाता था। तथा उसके मुख को चमड़े से मढा जाता था। इसका आकार बड़ा होता था। इसका आकार वृद्ध होने के फलस्वरूप यह वाद्य भी स्वर मार्जना के लिए अनुपयोगी माना जाता था। पटह वाद्य को शिथिलता आ जाने के कारण बार-बार कसना सम्भव नहीं था। अस्तु यह गम्भीर ध्वनियुक्त वाद्य की श्रंखला में आता था।

किन्तु संगीत रत्नाकर ग्रंथ13वीं शताब्दी में पटह को मृदंग तथा मर्दल के समान मान्यता दी है तथा उसका विस्तृत वर्णन किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि भरत काल तीसरी सदी से धीरे-धीरे पटह संगीत में अपना स्थान प्राप्त कर शारंगदेव के काल में 13वीं शताब्दी तक यह संगीत के प्रमुख अवनद्धवाद्य के रूप में सामने आये। संगीत के प्राप्त ग्रंथों में मानसोल्लास, नान्यदेव, का भरत-भाष्य, संगीतोपनिषत्सारोद्धार आदि ग्रंथों में पटह का विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है, जिसके अनुसार पटह दो रूप या दो प्रकार में प्राप्त होती है—1. मार्गी पटह, 2. देशी पटह। समय परिवर्तन के साथ इसके प्रयोग में पुन: परिवर्तन आया और यह वाद्य वर्तमान काल तक आते-आते लोक संगीत की ओर चला गया वर्तमान में इसका प्रयोग ढोलक व नाल के रूप में उत्तर प्रदेश प्रान्त में घर-घर शुभकार्य व मांगलिक अवसरों पर बहुल्यता के साथ किया जा रहा है।

भेरी वाद्य

नाट्य शास्त्र ग्रंथ में भेरी वाद्य का वर्णन भी प्रत्यंग वाद्य के अन्तर्गत् किया गया है। भेरी वाद्य भी एक ऐसा ही वाद्य था। जिसका प्रयोग तो

किया जाता था किन्तु उसे निश्चित स्वर नहीं मिलाया जा सकता था। हिन्दी शब्द सागर में भेरी का अर्थ ढोल या नगाड़ा बताया गया है परन्तु भरत मतानुसार भेरी मृदंग के समान आकार वाला एक अवनद्ध वाद्य माना है। यह धातु का बना होता है। तथा उसके दो मुख होते थे।

भेरी का अंग ताबे के धातु से बनाया जाता था। उसके दो मुखों का व्यास 24 अंगुल प्रमाण का होता था। इनके मुखों के ऊपर उसी आकार के लोहे के कड़े चढ़ाये जाते थे। कड़ों से युक्त मुख छेदयुक्त चमड़ों से ढके रहते थे। दोनों छेदयुक्त मुखों की चमड़े की डोरी से आपस में कस दिया जाता था। भेरी के अंगों के बीचों-बीच सूत की डोरी का बन्धन होता था। दाँये हाथ से तथा बाँये मुख पर बाँये हाथ से प्रहार करके वादन किया जाता था। इस प्रकार से बड़ी गम्भीर ध्वनि उत्पन्न होती थी। वाद्य पर घात करने से शत्रुओं को भयंकर और अत्यन्त भय का अनुभव होता था ऐसा मानना था। अस्तु भेरी वाद्य का मुख्यत: प्रयोग युद्ध के समय किया जाता रहा होगा।

भेरी का प्रयोग आनद्ध व सुषिर दोनों रूपों में प्राप्त होता है। वर्तमान में इसका प्रयोग उत्तरप्रदेश के कुछ भागों में विवाहोत्सव के समय एक लम्बी तुरही के रूप में दृष्टाव्य होता है।

भाण्ड वाद्य

भरत मुनि ने नाट्य शास्त्र ग्रन्थ में प्रत्यंग वाद्य के अन्तर्गत भाण्ड वाद्य का वर्णन किया है। आचार्य भरत मुनि के समय में प्रचलित भाण्ड वाद्य के बनावट के सन्दर्भ में मिलता है कि भाण्ड या भाण वाद्य 12 बल का परिमित मान वाली होती है। अर्थात परिधि से बाहर अंगुली की होती है सूत्र कटक (कड़ा) से युक्त कण्ठ में दो रन्धों को करके चमड़े से आच्छादित मुख वाला है। यह बाँये हाथ में धारण करके दाहिने हाथ से बजाया जाता था।

आचार्य भरत मुनि ने एक श्लोक में ध्रुवा गायन के साथ भाण्ड वाद्य का उपयोग बताया है यथा—

पादान्ते सन्निपाते तु तस्या भाण्ड ग्रहों भवेत ।। 320 ।।[16]

ध्रुवागान का प्रथम आवर्तन बिना भाण्ड वाद्य की संगत के नहीं किया जाता था। आचार्य भरत मुनि मृदंग वाद्य को भाण्ड संज्ञा भी प्रदान की हैं, जिसका विवेचना करते हुए उन्होंने श्लोक संख्या 273 में कहा है कि चारों ओर घूमने के कारण इसे भाण्ड वाद्य भी कहते हैं। इसी मत की पुष्टि करते हुए अंजना भार्गव ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि ''भरत द्वारा अवनद्ध वाद्य के लिए भाण्ड संज्ञा का भी प्रयोग किया मिलता है। भरत मुनि ने भाण्ड वाद्य वादन के सन्दर्भ में श्लोक संख्या 22 में बताया है यथा—

अडानान्तु समत्वांर्थ छिद्रप्रच्छादने तथा ।
विश्रामहेतोः शोभार्थ भाण्डवाद्य प्रयोजयेत् ।। 22 ।।[17]

अर्थात्—विविध अंगों की समता को लिए या किसी खाली समय को या किसी कमी को ढकने के लिए भाण्ड वाद्य का वादन करना चाहिये। भरत मुनि ने चतुथोध्याय के श्लोक संख्या 323 में भाण्ड वाद्य के संयोजन के सन्दर्भ में वर्णन किया है यथा—

अड़गवस्तुनिवृन्तौं तु वर्णान्तर निवृत्तिषु ।
तथोपस्थापने चैव भाण्डवाद्यं प्रयोजयेत् ।। 323 ।।[18]

अर्थात्—जब गीत के विषय (वस्तु) तथा अंगों की समाप्ति हो या उसकी रचना पूर्ण हो जाए तथा उपोहन (या उपस्थापन दशा) क्रिया हो तो (उस समय) भाण्ड वाद्य का संयोजन किया जाए। भाण्ड वाद्य का प्रयोग ताण्डव के साथ किया जाता था जिसके विवेचना करते हुए भरत मुनि ने चर्तुथ अध्याय के श्लोक संख्या 324 में स्पष्ट किया है यथा—

तेषु सूची प्रयोक्तव्या भाण्डेन सह ताण्डवे ।। 324 ।।[19]

अर्थात्—ताण्डव के साथ सूचीधारी को भाण्ड वाद्य के वादन के साथ प्रदर्शित किया जाए।

भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र ग्रन्थ में प्रत्यंग वाद्य के अर्न्तगत भाण वाद्य का वर्णन किया है। समय व जन रूचि के प्रभाव द्वारा इस वाद्य के महत्व में कमी आना स्वाभाविक ही था। क्योंकि ये वाद्य आकार में बड़ा था। अत: 13वीं शताब्दी के ''संगीत रत्नाकर'' ग्रन्थ में भाण वाद्य के सम्बन्ध में वाद्याध्याय के श्लोक संख्या 1141 में स्पष्ट रूप से वर्णित है। भाण वाद्य झल्लरी के आधे पल (साढ़े बारह) परिधि घरें में बारह अंगुल की होती है। यह चमड़े से मढ़ा वाद्य है जिसे बाँये हाथ से पकड़कर दाहिने हाथ से बजाया जाता था जिसका प्रयोग झल्लरी के छोटे रूप भाण नाम से भी जाना जाता था। शेष लक्षण झल्लरी के समान होते हैं।

इस प्रकार मध्य काल में भाण वाद्य के स्वरूप में किंचित ढांचेगत, ध्वनिगत परितर्वन के साथ प्रयोग में लाया जाता था। वस्तुत: भाण वाद्य आपना स्वतन्त्र अस्तित्व खो चुका था इस काल में उसका प्रयोग झल्लरी के अंग के रूप में किया जाने लगा। काल चक्र के परिणाम स्वरूप जन रूचि, लोकप्रयिता, अवश्यकता के अनुसार भाण वाद्य लुप्त प्राय: हो गया।

डिण्डिम

आचार्य भरत मुनि द्वारा वर्णित डिण्डिम वाघ का उल्लेख वैदिक मैं भी प्राप्त होता है। वाल्मीकि कृत रामायण, बौद्ध कालीन साहित्य आदि ग्रन्थों में डिमडिम वाद्य का उल्लेख प्रचुर मात्रा में प्राप्त था। इस काल के अवनद्ध वाद्यों में भेरी, डिण्डिमा तथा दुदुभि का प्रयोग हुआ है।[20]

प्राचीन कालीन नाटयशास्त्र ग्रंथ में डिण्डिम वाद्य की चर्चा की है। डिण्डिम वाद्य दुन्दुभि के समान विस्तार के कारण बड़े आकार में होता था। यह लड़की होता था। जिसपर चमड़ा ध्वनि उत्पन्न करने के लिये लगाया जाता था। और इसके इसी गुण के आधार पर इसे प्रत्यंग वाद्य की श्रेणी में रखा जाता था।

इस वाद्य के स्वरूप के सन्दर्भ में लालमणि मिश्र जी का वर्णित उद्धत किया जा सकता है कि ''इस वाद्य की लम्बाई एक या सवा हाथ की होती है दोनों मुँखो का व्यास पौन हाथ होता है। ढाँचा कठोर लड़की से बनया जाता है दोनों मुख चमड़े से मढें जाते है। दोनों मुख के छोर मे चमड़े की डेढ अगुल घनता की कुड़ली के अन्दर है दहिनी ओर की मुख कुण्डली के अन्दर है दहिनी ओर की कुण्डली सीधी है दाहिने मुख

को हाथ से बजाते और बाँये मुख को एक विता लखी लकड़ी से बजाते है।[21] इस वाद्य का प्रयोग वर्तमान में दिण्डमा या तबुल का दक्षिण भारत में ही विशेष रूप में होता है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि उपर्युक्त वर्णित प्रत्यंग वाद्य भरतमुनि के समय से लेकर धीरे-धीरे काल चक्र के परिवर्तन स्वरूप को देखते हुए अनेकों ग्रन्थों को आधारशिला मानते हुए मध्यकाल तक आते-आते प्राचीनकालीन चयनित वाद्यों में ढ़ांचेगत, नामोच्चारण, वादन-विधि, आदि परिवर्तन परिलक्षित होते हैं। जिसके साक्ष्य 13वीं शताब्दी के संगीत रत्नाकर ग्रन्थ से स्पष्ट होता है। मध्यकाल में इन वाद्यों में स्वत: ही पुन: यवन संस्कृति के फलस्वरूप उनके स्वरूप आकार-प्रकार में पुन: परिवर्तन परिलक्षित हुए और आधुनिक काल में उन्ही के नामोच्चारण, स्वरमार्जना, वादन विधि आदि परिवर्तनों के साथ नये कलेवर, नये नाम प्राप्त हुए तथा कुछ लुप्त प्राय: हुए तथा यह प्रत्यंग वाद्य बदलते स्वरूप के साथ आज भी वर्तमान समय में प्रचुण मात्रा में प्रचलित व कुछ लुप्त प्राय: है। जिन्हें संज्ञान में लाना हमारी सभ्यता व संस्कृति के संरक्षण, सम्बर्धन व हस्तान्तिरण हेतु अति आवश्यक है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ठाकुर, जयदेव सिंह, भारतीय संगीत का इतिहास, संगीत रिसर्च एकेडेमी कलकत्ता, सन् 1994, पृ. 2
2. कुलश्रेष्ठ, सुषमा, कालिदास साहित्य एवं वादन कला, ईस्टर्न बुक लिकर्स दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् 1986, पृ. 29
3. गुप्ता, चित्रा, संगीत में ताल वाद्यों की उपयोगिता, राधा पब्लिकेशन नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् 1992, पृ. 40
4. जायसवाल, राधेश्याम, भारतीय सुषिर वाद्यों का इतिहास, वाराणसेय संस्कृत संस्थान वाराणसी, प्रथम संस्करण , सन् 1983, पृ. 47
5. द्विवेदी, पारसनाथ, भरत मुनि प्रणीत नाट्यशास्त्रम् (व्याख्याद्धयोपेतम्) प्रथम संस्करण भाग-4, पृ. 6
6. बृहस्पति, आचार्य, नाट्यशास्त्र 28वाँ अध्याय, (संस्कृत-भाष्य तथा हिन्दी टीका) पृ. 6
7. शास्त्री, श्री बाबूलाल, नाट्यशास्त्र, 33वाँ अध्याय, भाग-4, श्लोक 16, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, भाग-1,2,3,4, संस्करण- 2012, पृ. 350
8. मिश्र, लालमणि, भारतीय संगीत वाद्य, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, सन् 2005, पृ. 151
9. शास्त्री, बाबूलाल, नाट्यशास्त्र, 33वाँ अध्याय, भाग-4, श्लोक 16, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, भाग-1,2,3,4, संस्करण- 2012।
10. शुक्ल, योगमाया, तबले का उद्भव, विकास और वादन शैलियाँ, हिंदी माध्यम कार्यालय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, सन् 2003, पृष्ठ 83
11. मराठे, मनोहर भालचन्द्रराव, ताल वाद्य शास्त्र (एक विवेचना), शर्मा पुस्तक सदन, सन् 2002, पृष्ठ 82
12. शुक्ल, योगमाया, तबले का का उद्भव, और वादन शैलियाँ, हिंदी माध्यम कार्यालय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, सन् 2003, पृष्ठ 28
13. मिश्र, लालमणि, भारतीय संगीत वाद्य, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, सन् 2005, पृष्ठ 169
14. भार्गव, अजंना, भारतीय संगीत में वाद्यों का चिंतन, कनिष्क पब्लिकेशन्स, सन् 2002, पृष्ठ 171
15. मिश्र, लालमणि, भारतीय संगीत वाद्य,भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, सन् 2005, पृष्ठ 168
16. शास्त्री, श्री बाबूलाल, नाट्यशास्त्र, चतुर्थ अध्याय, भाग-1, श्लोक 320, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, भाग-1,2,3,4, संस्करण- 2012, पृ. 148
17. वही, श्लोक 22, पृ. 352
18. वही, श्लोक 322, पृ. 149
19. वही, चतुर्थ अध्याय, भाग-1, श्लोक 324, पृ. 149
20. भार्गव, अंजना, भारतीय संगीत में वाद्यों का चिंतन, कनिष्क पब्लिकेशन्स, सन् 2002, पृष्ठ 138
21. तलेगांवकर, सुलभ तबला वादन शास्त्र, पृष्ठ 89